© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 09 Issue: 02 | April - June 2018
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

मध्यकालीन संत साहित्य में ब्रह्म की व्यापक अवधारणा की सामाजिक चेतना

डॉ. गुंजन
एसोसिएट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, बैकुंठी देवी कन्या महाविद्यालय, आगरा
डॉ. भीमराव आंबेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

भक्ति आंदोलन एक ऐसी ऐतिहासिक घटना थी, जिसका समाज पर बहुआयामी प्रभाव दिखायी देता है। भक्ति आंदोलन के उदय में प्राचीन संस्कार, अनगिनत परंपराएँ, आस्थाएँ और विश्वास थे, साथ ही उसके स्वरूप निर्धारण में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ की भी महती भूमिका है। भक्ति और साधना का प्रचार यद्यपि उत्तर और दक्षिण भारत में एक साथ हो रहा था तथापि कुछ निश्चित कारण ऐसे थे जो उसका स्वरूप निर्धारित कर रहे थे। भक्ति और प्रेम जीवन का स्वरूप एकान्तिक होने पर भी इस भक्ति आंदोलन का साजिक पक्ष बहुत ही सशक्त तथा प्रभाव था। यही कारण है कि ब्रह्म का जो स्वरूप संत काव्यधारा में वर्णित किया गया उसके एकान्तिक भक्ति के अतिरिक्त सामाजिक सरोकार भी थे। संत काव्यधारा के ब्रह्म के स्वरूप पर चर्चा करते हुए उसके सामाजिक कारणों तथा प्रगतिशील स्वरूप पर प्रस्तुत शोध-पत्र किया गया है।

मध्यकालीन साहित्य में निर्गुण उपासकों को संत और सगुण उपासकों को भक्त कहा गया। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि के तत्वत: दोनों में कोई अंतर नहीं है। संत भक्ति भी है और सभी भक्तसंत प्रवृत्ति के है। क्योकि भृर्तहरि ने कहा है - सन्तः स्वयं पर हिते विहिताभियोमाः। संत स्वेच्छा से दूसरों का हित करने में लगे रहते है। परंतु हिंदी समीक्षा में संत शब्द ज्ञानात्रित निर्गुण परंपरा के रूढ हो गया। निष्काय प्रवृति, सभी विष्ज्ञयों से निर्लिप्त तथा ईवर से प्रेम करने वाले ही संत है ऐसा कबीरदास भी कहते है- ”निरबैरी निहकांमता साईं सेती नेह। बिखया सौं न्यारा रहै संतनि कौ अंग एह।

(कबीर ग्रंथावली पृ0 56 सं0 54)

कबीर ने करनी के आधार पर संतों का चयन करके, वेदवाणी किसी सम्प्रदाय विशेष के अनुयायी, ब्राह्मण श्रेष्ठता में विश्वास रखने वालों को संत मानने की रूढ़ि या खण्ड कर दिया स्वयं तुलसी ने भी - संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह परि कहै न जाना।

निज परिताप द्रवहू नवनीता। पर दुख द्रवहि संत सुपुनीता।।

कहकर तुलसीदास ने विनयशील, निष्पाप, सत्यनिष्ठ, वैराग्ययुक्त को ही संत माना। इस प्रकार भक्तिकाल में जैसे ईश्वर पर से सबका इजारा तोड़कर बहुत से शब्दों की अर्थव्यक्ति हुई, ”संत“ शब्द भी व्यापक होकर ईश्वर के भक्तों के लिए रूढ़ हुआ। जिसमें सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त थे। यद्यपि तुलसीदास व्यापक गुणों का वर्णन करने के बाद भी निगुण उपासकों को संत कहने के विरोधी थे, परंतु परवर्ती अनुसंधानों और ईसाई शब्द ”संत“ से समानता के कारण यह ”संत“ शब्द मध्यकालीन के ज्ञान भक्तों की परिभाषिक संज्ञा बन गया है। जो नीची जाति में उत्पन्न हुए, ब्राह्मण , वेद और सगुण ईश्वर में विश्वास नहीं रखते, जाति के बंधनों को अस्वीकार करते हैं तथा किसी को करनी के बल पर अपना गुरू मान लेते है।

जिस प्रकार निर्गुण भक्तों ने स्वयं को संत के रूप में एक परंपरावादी समाज में स्थापित किया, उसी तरह उनके भक्ति के आलम्बन ब्रह्म का स्वरूप भी परंपरावाद से टकराता है। निर्गुण शब्द भक्ति के क्षेत्र में नया नहीं है। यह भारतीय दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। तत्व चिन्तकों ने इस शब्द को बड़ी सूक्ष्मता के साथ व्याख्यित किया है। जिसको विशेषणों के माध्यम से नहीं समझाया जा सकता वही निर्गुण ब्रह्म है। निर्गुन का प्रयोग निराकार के अर्थ में किया गया। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में निर्गुन को गुणातीत ! सत्व रजतय के गुणों से वर्जित। गोत्र, वर्ण, जन्म, मरण, मोह, शोक आदि से रहित वर्णित किया है। अखण्डता, अनादि, अनन्त, अगम्य जैसे अयायवाची गुणों से युक्त होने के कारण थी ब्रह्म निर्गुण माना गया।

परंतु मध्यकालीन संत जब ब्रह्म को निर्गुन कह रहे हैं तो वह राम त्रिगुणातीत है। उस अविगत की गति कोई समझ नहीं सकता, वेद, स्मृतियाँ, पुराण तथा व्याकरण कोई उसका गर्भ नहीं समझ सकता।

निर्गुन राम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखी न जाई।।
चारि वेद औ सुंभ्रित पुरांना।
नौ व्याकरण गरम न जांनां।।

© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 09 Issue: 02 | April - June 2018
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

वह आकाश है न धरती, सूर्य है न चन्द्र, न पानी है न पवन, न नाद है न विष्णु, वह शिव नहीं शक्ति भी नहीं। जब सृष्टि में कुछ नहीं था तब भी वह विद्यमान था। इसी गुणातीत ब्रह्म की निर्गुन भक्तों के राम के रूप में गुणमय रूप की कल्पना नहीं की गयी है। परंतु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि संत कवि निर्गुण ब्रह्म से वेदों के "नति-नति" कहकर व्याचलित ब्रह्म का निषेधात्मक रूप ग्रहण नहीं करना चाहते। वह मानते है कि उनको यह परब्रह्म सारे पिण्ड और ब्रह्माण्ड से परे है तथा दोनों से आगम्य है। उसे किसी भी विशेषण के साथ या विभेदों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता। यह अनुभव की वस्तु है और भाव तथा अभाव के बीच का है।

"यह अत्यंताभाव है यह ई तुरियातीत।

यह अनुभव साक्षात है यह निश्चै अद्‌वैत।।

नाहीं, नाहीं, कर कहै, है, है कहँ बखानि।

'नांही', है के मध्य है सो अनुभव करि जानि।।

दादू के अनुसार उसे द्वेत-अद्वेत, भाव-अभाव जैसे पक्षों में बाँटकर देखना भ्रम है-

खंड-खंड करि ब्रहम को पख-पख लीया बांति।

दादू पूरण ब्रहम तजि बंध भरम की गंढि।।

उसे कहा नही जा सकता पर कहने के आनंद को भी त्यागा नहीं जा सकता। जैसा सुन्दरदास ने वर्णित किया है आवश्यकत नहीं कि वह वैसा ही हो "जैसा कहूं सोइ है नहिं सुन्दर, है तो सही पर जैसो का तैसो ध्यातव्य है कि यह निर्गुण ब्रह्म शंकर के पूर्णरूपेण अद्रेतवाद वाला ब्रह्म नहीं है उस ब्रह्म को पाने की कठोर एवं निर्भय साधना के कारण ही भक्ति के दर्शनों द्वेताद्वैत, विशिष्यद्वेत, शुद्वाद्वते का भाविर्भाव हुआ था। रांडिलय ने अपने भक्तिसूत्र में ईश्वर विषयक परानुशक्ति को ही ब्रह्मजिज्ञासा कहा। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। सा परानुशक्तिरीश्वरे। परंतु निर्गुन भक्त कभी अद्वेतवाद की ओर झुकते है। कभी एकेश्वरवाद की ओर, और कभी पौरणिक अध्ययनों की ओर। इसका कारण यह था कि ये संत भक्त सारे सांसारिक गतिरोधों से ऊपर उठकर सामान्य जनता को ऐसा आलम्बर देना चाहते थे जहां कोई शर्त न हो। भक्त अपनी भावना के अनुरूप ईश्वर गढ़ सके और उसकी अराधना कर सके।

वैष्णव, शैव, शाक्त सभी मतों के परस्पर संघर्ष के बीच बौद्ध धर्म के प्रचार ने एक बड़े उपेक्षित वर्ग को संवल प्रदान किया था। परंतु भगवान बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित कर दिया। सगुण भक्तों के अवतारी पुरूष ब्रह्माण व क्षत्रिय थे। मानव जीवन जैसा उनका जीवन था। सभी मृत्यु के अधीन है। परंतु निर्गुण न जन्मता है न मरता है, वह कर्मों से बँधा नहीं है। सब पर कृपा करने के लिए उस ब्रह्म का रूप धरने की आवश्यकता नहीं। वह त्रिगुणातीत भावाभावाविनिर्मुक्त तथा प्रेम स्वरूप है। यह राम किसी दशरथ का पुत्र नहीं। यह तो उस दीपशिखा की भांति है जिसे हृदय में स्थिर कर लिया जाये तो सारे कर्म पतंगो के समान जलकर नष्ट हो जाते हैं -

राम नाम दीपक सिखा दूलन दिल ठहराय।

करम विचार सलभ से जराहिं उड़ाय उड़ाय।।

राम नाम की दो परंपराएँ इस समय दिखती है और दोनों ही परंपराएँ स्वयं को रामानंद की परंपरा से जोड़ती है। संतो ने जिस निर्गुण राम की उपासना और रामनाम के जप का व्याख्यान किया है वह उनकी एकनिष्ठा का परिचायक है एवं सागर के पार उतारने वाला है। राम ही कबीर के प्रेम को ठाई अक्षर है (प$र$ए$म) नहीं। इस राम में शंकर के अद्वैत की नीरसता तथा शुष्कता नहीं बल्कि भक्ति तथा ज्ञान का सामंजस्य है। इसीलिए इन संत कवियों का साहित्य प्रेम तथा भक्ति के कलनों से अभिविक्त है। कही भी कुछ भी उसके बिना संभव नहीं। जहाँ जो भी सुदर गुण है दयाशीलता, परोपकारिता, प्रेम सब "राम" ही है। संतो ने जहाँ भी सत्य, शिव और सुंदरम् को देखा, वहाँ उसे राम ही माना है। फिर वह स्त्री-पुरूष, जाति, धर्म के आधार पर कुछ भी हो या फिर पशु-पक्षी ही क्यों न हों। कुत्ते की एकनिष्ठ भक्ति देखकर कबीर स्वयं को 'राम का कुत्ता' कहने में भी संकोच नहीं करते।

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा चांड।

गले राम की जेवरी, जित खैचे तित जाउं।।

इस प्रकार संतों का राम गुणातीत भी है गुणमय भी सभी मानवीय भावनाओं से परे और सभी मानवतावादी भावों का पुज्य भी। राग-विराग से परे भी है और भक्तों के प्रेम का आलम्बन भी साथ ही परम दीन दयासिन्धु जो भक्तों से प्रेम भी करता है। सहजोबाई लिखती है -

नाम नहीं और नाय सब, रूप नहीं सब रूप।

सहजो सब कहु बहन है, हरि परगट हरि गूप।।

निराकर आकार सब, निर्गुन और गुनवंत।

है नाहि सूँ रहित है, सहजो यौ मगवंत।।

सं.वा.सं. भाग 1 पृ0 - 165

सगुण भक्तों के समान ही निर्गुन भक्तों में भी समर्पण, शरणागति तथा निष्ठा में कमी नहीं दिखती। नाम स्मरण, निरंतर जप द्वारा उस परमब्रह्म को पाने की आतुर निर्गुन संतों की बानियाँ सामाजिक स्तर पर बहुत ही प्रभावी सिद्ध हुई। इसका सबसे बड़ा कारण था उनके परब्रह्म का स्वरूप तथा उनकी उपासना पद्वति। निराकार, गुणातीत इस ब्रह्म के स्वरूप की उद्धावना वर्णाश्रम की कठोरता तथा अस्पृश्यता की घृणित प्रथाओं की ही उपज था। शंकर के अद्वैत से लिये गये। इस निर्गुण ब्रह्म को स्वयं शंकर के अद्वैत की कारा में भी इन संतों ने जकड़ने नहीं दिया। उससे भी आगे ले जाकर ईश्वर को उन्होंने जन जन की सम्पत्ति बना दिया। मंदिरों पर अपना आधिपत्य कर उनसे एक बड़े वर्ग को दूर रखने वालों को उत्तर देते हुए हृदय-हृदय को मंदिर बना दिया। नामदेव तथा ज्ञानदेव से प्रारंभ हुई इस भक्ति परंपरा ने महाधीशों को खुली चुनौती दी तो उसका आधार उनका वहीं ब्रह्म था जिसकी कोई रेखा, रंग, जाति तथा गुन नहीं था। कहने का तात्पर्य था कि सम्पूर्ण सृष्टि के नियामक के यहाँ किसी भेद की सृष्टि की ही नहीं गयी। अपने-अपने स्वार्थो की पूर्ति के नियित्त ही मनुष्य ने मानव का और साथ ही ईश्वर का विभाजन कर लिया है।

संत कवियों ने अपने ब्रह्म की व्यापकता के आधार पर 'समदृष्टि' की बात की। जहॉ केवल वही सत्य है, और सब असत्य, उसका मिलना ही जीवन का ध्येय है तो वहाँ पर सारी चतुराई, सारी सांसारिकता व्याज्य है।

भाई रे भरम-भगति सुजान, जौर लौं साँच सूँ नहिं पहिचान।

भरत नाचन, भरम गावन, भरम जप-तप दान।

भरम सेवा, भरम पूजा, भरम सूँ पहिचान।।

भरम षटकर्म, भरम संहिता, भरम गृह वन जान।

भरम कर कर्म कीये, भरम की यह बान।।

कबीर तथा अन्य संतो की सामाजिक चेतना को लेकर जो भी विचार किया जाय सबके तल में प्रतिष्ण इसी भक्ति-भाव की है। अपनी साधना के लिए कबीर ने कहा भी

"तुमृ जिन जालौ गीत है, भहुनिज ब्रह्म विचार।

केबल कहि समुझाइया, आतक साधन सारे रे।।

जो कुछ भी कबीर कह रहे थे वह उसकी ब्रह्म को विचार करके। संत-साहित्य में यह ब्रह्म ही वह सशक्त उद्धावना है जो सभी की मार्गदर्शक बन जाती है और अपने तर्क से सिद्ध कर देती है कि मार्ग तथा स्वरूप भले ही अलग हों सब जिसे पाना चाहते है। वह एक ही है और उसको पाने का मार्ग प्रेम से होकर जाता है।

"जाति-पाति पूछे नहिं कोई।

हरि को भजे सौ हरि का होई।।"

ब्राह्मणवाद पुरोहित एकाधिकार और कर्मकाण्ड वास्तव में सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक रूप में एक ही है, पर कबीर ब्रह्म और उस ब्रह्म को पाने की साधना दोनो के लिए ही परपीड़ा को समझना अनिवार्य मानते है - कबिरा सोई पीर है जो जानै पर-पीट।

जो पर-पीट न जसई, सो काफिर बेपीर।।

यदि पीर नहीं है पर पीड़ा समझता है तो ब्रह्म भी वही है जो दयालु है और दोनो का बंधु है।

दीनदयाल क्रिपाल दमोदर भगत बहल भयहारी।

कहत कबीर भीर जन राखहु सेवा करउं तुम्हारी।।

उसके द्वार पार भिखारी तथा दीन के रूप मेें खड़े संत और किसी के समक्ष नतमस्तक नहीं होते। वैराग्य की बात करने वाले सभी संत अपना कर्मपालन भी करते है और सभी गृहस्थ है। क्योंकि वह जीवन में सारे कर्मों से विरत नहीं वरन् कर्म करते हुए उस परमब्रह्म को समर्पित है। दादू कहते है:

मैं भिखारी मंगिता दरसन हेतु दयाल।
तुम दाता दुखमंजिता मेरी करहु सम्हाल।

निर्गुन भक्तों ने ब्रह्म को सत्य तथा सम्पूर्ण संसार को भ्रम मानने पर भी ब्रह्म को उन समस्त गुणों का केन्द्र माना जो मनुष्य जाति के दुख दूर कर सकने में समर्थ है। उसके समक्ष सारे भेद नष्ट हो जाते है। केवल भक्त तथा भगवान का भेद सत्य है। संतो ने समाजिक एकता पर जितनी उक्तियाँ कहीं है, वे सभी केवल भक्त तथा भगवान के संबंध को ही परिपुष्ट करती है। यहाँ भी तात्विक भेद कहीं है ही नहीं। मानव जीवन ही ईश्वर तक पहुँचाने का माध्यम है तो

"मानुख जनमाहि पाइ के चूके अव की घात
जाई परै भवचक्र मैं सहै घनेरी घात।।" क्र.ग्र.पृ. 185 साथी - 6

संत मुक्ति बात करते हुए भी भ्रमित मानव समाज को पहचान रहे थे। क्योकि व्यवहार के स्तर पर वह समाज के मध्य थे। और उसके यथार्थ को समझ पा रहे थे। हिंदू हो या मुसलमान, ईश्वर बात तो करते है पर न अपनी संकीर्ण विचारधाराओं से परे है। न ही विभेदों से। विषय तृष्णा और तक्जनित सामाजिक आडम्बर से समाज तभी मुक्त हो सकता था जब उसे ईश्वर के व्यापक तथा भेदरहित स्वरूप का आभास हो। वेदांति हो, जप हो सन्यासी कोई भेदों से ऊपर नहीं उठ पाता। धन, यश, प्रभुता किसी न किसी कामना से सब भटक जाते है।

कोई कहै मैं ग्यानि रे भाई कोई कहे मै त्यागी।
कोई कहै मै इंन्द्री जीती अहं सभनि को लागी।।
काई कहै मै जोगी रे भाई कोई कहै मैं भोगी।
मैं तैं आपा दूरि न द्वारा, कैसे जीवै रोगी।।

मद, मोह, कामना, शोक, भय सभी से मुक्ति केवल उस ब्रह्म की साधना में है, क्योकि वह इन सबसे बहुत ऊपर है। ऐसा कहते हुए निर्गुण साधक जब सारी कामनाओं के बहिष्कार की चर्चा करते है तो उसका कारण होता है कि वह देख रहे थे कि सम्पूर्ण वैमन्य, असामनता तथा विद्वेष के कारण ये कामनाएँ ही है। इन संतों ने समाज में सौहार्द तथा समाज को दिशा दिखाने का मार्ग अपने इस परमब्रह्म में पा लिया था। इनके जीवन दर्शन में प्रत्येक प्राणी केवल एक जीव है जो माया रूपी संसार में भटका हुआ है और इनको राह तभी मिल सकती है जब इनका आराध्य संसार की बनाई गई सारी विशिष्ट तथ्यों से परे हो। भौतिक जीवन से निरन्तर उन्नयन की बात करते हुए भी अधिकतर संत गृहस्थ थे तथा अपनी जीविका के लिए कार्यरत् थे। अर्थात् ईश्वर का नाम लेकर या ईश्वर को सांसारिक विविधताओं में बांधकर कोई भी जन-समाज को शोषण करे इसकी संभावना को वे समाप्त कर देना चाहते थे। ईश्वर तथा वेद पुराण का आश्रय ग्रहण कर एक बड़े जन-समूह को मुख्य धारा से अलग कर देने के एक वर्ग-विशेष के प्रपंच को ध्वस्त कर देने के लिए ये संत तत्पर रहे। मनुष्यों में विभाजन का आधार केवल उनकी मानवीयता हो सकती है। क्योकि मनुष्य मनुष्य होकर मानवता का सम्मान न करे ऐसा उन्हें कदापि सहन न था। ऐसे व्यापक ब्रह्म की अवधारणा को संबल बनाकर ही संत, समाज में वह परिवर्तन ला सके तथा प्रभाव उत्पन्न कर सके, जिसे लोक जागरण कहा गया। जन-समाज के हृदय और बुद्धि को आंदोलित करते हुए इन संतो ने बता दिया कि ब्रह्म को सीमाओं में बांधकर उसके नाम पर संघर्ष कितना अर्थहीन और विवेकरहित है। मध्यकालीन संतो के ब्रह्म की अवधारणा की यही सामाजिक भूमिका है।

<u>सन्दर्भ</u>:-

1. कबीर ग्रन्थावली, संपादित, डॉ. पारसनाथ तिवारी, पृ. 156, साखी-24
2. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड दोहा-125, चौपाई-4
3. ग्रन्थावली सं0 डॉ0 पारसनाथ तिवारी, पृ0 153
4. सुंदरदास, ज्ञानसमुंद्र - 44
5. दादू, बानी (ज्ञानसागर) पृ0 110
6. संतवाणी संग्रह - भाग 2 पृ. 138
7. कबीर ग्रंथावली सं. पारसनाथ तिवारी पृ. 161
8. संतवाणी संग्रह भाग-1, पृ. 165
9. संत रैदास, पद-74, पृ0 181

© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 09 Issue: 02 | April - June 2018
Paper is available at www.jrps.in | Email : info@jrps.in

10. कबीर ग्रंथा, पद-40
11. संतवाणी संग्रह, भाग-1, पृ0-81
12. कबीर ग्रंथावली-पृ. 185
13. कबीर ग्रंथावली, पद-195